IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

प्रकृति वंदना से पर्यावरणीय चेतनाः भारतीय मनीषियों का कालजयी चिंतन

डॉ0 धीरेंद्र सिंह,
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र,
राजकीय महाविद्यालय मानिकपुर, चित्रकूट

शोध सारांश

प्रस्तुत शोध लेख भारतीय ज्ञान परंपरा के आलोक में पर्यावरण संरक्षण की शाश्वत अवधारणाओं का विश्लेषण करता है। भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य प्रमाणपत्र प्राप्ति के बजाय चारित्रिक और आध्यात्मिक ज्ञान का अर्जन था, जिसमें प्रकृति के साथ सह–अस्तित्व को अनिवार्य माना गया। लेख यह प्रतिपादित करता है कि वैदिक काल से लेकर उपनिषद, बौद्ध और जैन काल तक, भारतीय मनीषियों ने प्रकृति को मात्र एक उपभोग्य वस्तु न मानकर उसे 'माता' और 'देवत्व' के रूप में प्रतिष्ठित किया। ऋग्वेद का 'ऋत' सिद्धांत और यजुर्वेद का 'शांति पाठ' पारिस्थितिक संतुलन के प्राचीन वैज्ञानिक प्रमाण हैं। अध्ययन में स्पष्ट किया गया है कि आधुनिक पर्यावरणीय संकट पश्चिमी भोगवादी संस्कृति और अनियंत्रित औद्योगिकरण की देन है। इसके विपरीत, भारतीय चिंतन में वृक्षारोपण को 'पुण्य' और वन–विनाश को 'पाप' मानकर एक सुदृढ़ संरक्षण तंत्र विकसित किया गया था। 'दशपुत्रसमो द्रुमः' जैसे सूत्र वनों के सामाजिक और जैविक महत्व को वैज्ञानिक रूप से रेखांकित करते हैं। लेख में प्रेमचंद, निर्मल वर्मा और महात्मा गांधी के वैचारिक योगदान के माध्यम से प्रकृति के संवेदनात्मक पक्ष को भी उभारा गया है। वर्तमान जलवायु परिवर्तन और प्रदूषण जैसी वैश्विक चुनौतियों का समाधान भारतीय ज्ञान परंपरा के 'त्यागपूर्वक उपभोग' और प्रकृति के साथ 'तादात्म्य' स्थापित करने में ही निहित है। यह शोध प्राचीन मूल्यों और आधुनिक सतत विकास के बीच एक सेतु स्थापित करने का प्रयास करता है।

मुख्य शब्दः *भारतीय ज्ञान परंपरा, पर्यावरण संरक्षण, ऋग्वेद, पारिस्थितिक संतुलन, सह–अस्तित्व, सतत विकास, उपनिषद, शांति पाठ, वनस्पति वंदना, शाश्वत जीवन दर्शन।*

प्रस्तावना

भारत को अनादि काल से 'विश्व गुरु' के गौरवशाली पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। यह अप्रतिम अलंकरण हमें किसी आधुनिक औद्योगिक उपलब्धि के कारण नहीं, बल्कि हमारी उस प्राचीन, उन्नत और वैज्ञानिक संस्कृति के कारण प्राप्त है जिसने संपूर्ण मानवता को कल्याण का मार्ग दिखाया। भारतीय ज्ञान परंपरा का प्रवाह वैदिक और उपनिषद काल से आरंभ होकर बौद्ध और जैन काल तक निरंतर अबाध गति से होता रहा। इस परंपरा की सबसे अनूठी विशेषता यह थी कि प्राचीन काल में शिक्षा का मूल उद्देश्य 'ज्ञान' और 'चरित्र' का निर्माण था, न कि केवल उपाधि पत्रों या प्रमाणपत्रों का संग्रह करना। यही कारण है कि उस समय आज की भांति शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात किसी उपाधि पत्र को प्रदान करने की औपचारिकता का प्रचलन नहीं था, बल्कि शिष्य का आचरण ही उसकी योग्यता का प्रमाण माना जाता था। परंपराएं वस्तुतः उन विश्वासों, प्रतीकों और व्यवहारों का समूह होती हैं, जो सहस्राब्दियों की यात्रा तय कर समाज को एकता के सूत्र में पिरोती हैं। भारतीय चिंतन के मूल में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा अत्यंत सूक्ष्म और व्यापक रूप में समाहित है। हमारे ऋषि–मुनि और तपस्वी न केवल प्रकृति के निकट रहते थे, अपितु वे स्वयं को

प्रकृति का ही एक अंग मानते थे। चूँकि उनका जीवन वन–प्रांतरों और नदियों के संरक्षण में व्यतीत होता था, इसलिए उन्होंने शास्त्रों में सभी विद्याओं के साथ पारिस्थितिक संतुलन और प्रकृति वंदना का स्पष्ट विधान किया। यह सांस्कृतिक विरासत आज भी हमें अपनेपन और वैश्विक एकता (वसुधैव कुटुंबकम्) का बोध कराती है।

भारतीय ज्ञान परंपरा और वनस्पति संरक्षण

भारतीय ज्ञान परंपरा के गहन अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि हमारे पूर्वजों ने प्रकृति और उसके विविध उपादानों, पशु, पक्षी, और पादपों को केवल भौतिक वस्तु न मानकर उन्हें एक 'आध्यात्मिक स्वरूप' प्रदान किया है। सनातन संस्कृति और पर्यावरण का संबंध चिरकाल से ही पूरक रहा है। पादप और पाषाण में भी परमात्मा के दर्शन करने वाली इस अद्वितीय परंपरा ने धर्म के माध्यम से प्रकृति की वंदना को सामाजिक जीवन में गहराई से स्थापित किया है। सिंधु–सरस्वती सभ्यता के अवशेषों से लेकर वैदिक काल और आधुनिक युग तक, भारतीय समाज में प्रकृति पूजा की एक अटूट धारा प्रवाहित होती रही है। "हमारे मनीषियों की यह दूरदर्शिता ही थी कि उन्होंने वृक्षों में तुलसी, पीपल, बरगद; नदियों में गंगा, यमुना और खगोलीय पिंडों में सूर्य, चंद्र व वायु के प्रति श्रद्धा का भाव जगाया, ताकि इनका संरक्षण स्वतः सुनिश्चित हो सके।"[1]

भारतीय धर्म शास्त्रों में वृक्षारोपण, उनके पोषण और संवर्धन को न केवल मानवीय कर्तव्य, बल्कि एक 'पुण्य कर्म' के रूप में परिभाषित किया गया है। "पद्म पुराण और अन्य स्मृतियों के अनुसार, जो व्यक्ति अपने जीवन में कम से कम एक पीपल, एक नीम, और एक बेर का वृक्ष लगाता है, तथा पुष्पों वाली लताओं और फलों के वृक्षों (जैसे आम, अनार, नारंगी) का रोपण करता है, वह कभी नरकगामी नहीं होता।"[2] यह धारणा धार्मिक होते हुए भी अनिवार्य रूप से पारिस्थितिक स्वास्थ्य से जुड़ी थी।

वृक्षों के प्रति इस संवेदनशीलता का प्रमाण स्कंद पुराण में भी मिलता है, जहाँ हरे वृक्षों को काटना अत्यंत निंदनीय और वर्जित बताया गया है। ऋग्वेद में वनस्पतियों को 'माता' (मातृत्व रूप) के समान पूज्य मानकर उन्हें कभी नष्ट न करने का आह्वान किया गया है। इसी प्रकार, मनुस्मृति ने वनस्पतियों के संरक्षण हेतु कठोर नैतिक और कानूनी विधान बनाए हैं। "मनु के अनुसार, ईंधन जैसी मूलभूत आवश्यकता के लिए भी फलदार या हरे वृक्षों को काटना पाप की श्रेणी में आता है और इसके लिए विशिष्ट दंड का प्रावधान किया गया है।"[3]

वस्तुतः, भारतीय ऋषि–मुनियों ने प्रकृति को धर्म से जोड़कर संरक्षण का जो मार्ग प्रशस्त किया, उसके मूल में "शुद्धता और सह–अस्तित्व" का भाव था। यज्ञ की परंपरा भी पर्यावरण और मन की शुद्धि का एक माध्यम थी। अंततः, भारतीय ज्ञान परंपरा वनस्पतियों के देवत्व की अवधारणा को पुष्ट करती है, जो आज के वैश्विक जलवायु संकट के समाधान हेतु एक सशक्त वैचारिक आधार प्रदान करती है।

वैज्ञानिक जीवन पद्धति और सह–अस्तित्व

हिंदुत्व केवल एक उपासना पद्धति नहीं, बल्कि एक परिष्कृत वैज्ञानिक जीवन पद्धति है, जिसका मूल आधार 'सह–अस्तित्व' की भावना है। भारतीय दर्शन के केंद्र में 'जियो और जीने दो' का सार्वभौमिक सिद्धांत सर्वोपरि रहा है, जो केवल मानव जाति तक सीमित न रहकर संपूर्ण प्राणी जगत और वनस्पति जगत को स्वयं में समाहित करता है। हमारे प्राचीन ऋषि–मुनि इस वैज्ञानिक तथ्य से भली–भांति परिचित थे कि इस पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व पूर्णतः 'जल' और 'जंगल' की उपलब्धता पर निर्भर है। इसी पारिस्थितिक समझ को उन्होंने धार्मिक सूत्रों में पिरोया ताकि जनमानस इसे आत्मसात कर सके। शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है:

"वृक्षाद् वर्षति पर्जन्यः पर्जन्यादन्न संभवः" अर्थात् वृक्षों से ही मेघ बरसते हैं, मेघों से अन्न की उत्पत्ति होती है और अन्न से ही समस्त प्राणियों का जीवन संभव है। यह चक्र आधुनिक जल–चक्र और खाद्य–श्रृंखला की वैज्ञानिक व्याख्या को प्राचीन काल में ही पुष्ट करता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में मनुष्य और प्रकृति के इसी अटूट संबंध को सुदृढ़ करने के लिए वर्ण–आश्रम व्यवस्था का निर्माण किया गया। हिंदू जीवन के चार महत्वपूर्ण आश्रमों में से तीन ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास का सीधा संबंध वनों और प्रकृति के एकांत से रहा है। यह व्यवस्था सुनिश्चित करती थी कि मनुष्य अपने जीवन का अधिकांश भाग प्रकृति के संरक्षण और उसके सानिध्य में व्यतीत करे।

इस वैज्ञानिक सोच का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण 'बृहदारण्यक' और 'छांदोग्य' जैसे उपनिषदों में मिलता है। छांदोग्य उपनिषद के एक प्रसंग में ऋषि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मा का बोध कराते समय वृक्षों का उदाहरण देते हैं। वे समझाते हैं कि वृक्ष मात्र जड़ पदार्थ नहीं हैं, बल्कि वे भी जीवात्मा से ओतप्रोत होते हैं। वे मनुष्यों की भाँति ही

सुख–दुःख, संवेदना और चेतना का अनुभव करते हैं। यदि वृक्ष की एक शाखा काट दी जाए तो उसे पीड़ा होती है, किंतु उसकी जीवनी शक्ति (आत्मा) उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास करती है। आधुनिक विज्ञान में सर जे.सी. बोस ने इसी तथ्य को प्रयोगशाला में सिद्ध किया था, जिसे हमारे मनीषियों ने हजारों वर्ष पूर्व अनुभूत कर लिया था।

इसके अतिरिक्त, हिंदू दर्शन में वृक्षों के सामाजिक और आध्यात्मिक महत्व को प्रतिपादित करने के लिए उनकी तुलना संतानों से की गई है। मत्स्य पुराण और पद्म पुराण में वर्णित एक प्रसिद्ध श्लोक के अनुसारः

'दशपुत्रसमो द्रुमः' अर्थात् एक वृक्ष दस पुत्रों के समान गुणकारी और पुण्यदायी होता है।[4]

यह उपमा केवल भावुकता नहीं, बल्कि इस वैज्ञानिक सोच का परिणाम थी कि एक वृक्ष अपने जीवनकाल में जितने जीवों को आश्रय, ऑक्सीजन और पोषण प्रदान करता है, वह दस पुत्रों द्वारा की जाने वाली सेवा से भी अधिक व्यापक है। इस प्रकार, भारतीय जीवन पद्धति प्रकृति के शोषण के स्थान पर उसके दोहन और पोषण पर टिकी है।

ऋग्वेद और पर्यावरणीय संतुलन

भारतीय वांग्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम स्रोत है, जो मनुष्य और प्रकृति के बीच के संतुलन को 'ऋत' (वैश्विक व्यवस्था) के रूप में परिभाषित करता है। ऋग्वेद के सूक्तों में पर्यावरण के प्रत्येक घटक को चेतनायुक्त मानकर उसके संरक्षण का आह्वान किया गया है। ऋग्वेद में शुद्ध वायु को मात्र गैसों का मिश्रण नहीं, बल्कि एक 'अमूल्य औषधि' और 'जीवनदाता सखा' के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋषियों का मानना था कि जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार शुद्ध वायु (प्राणवायु) समस्त जीवों का भरण–पोषण करने वाला भ्राता और मित्र है। यदि वायु प्रदूषित होती है, तो वह औषधीय गुणों को खो देती है, जिससे रोगों का प्रादुर्भाव होता है।

इस पारिस्थितिक संतुलन की सबसे व्यापक अभिव्यक्ति यजुर्वेद के 'शांति पाठ' (36/17) में मिलती है। यह मंत्र केवल आध्यात्मिक शांति की प्रार्थना नहीं है, बल्कि यह संपूर्ण ब्रह्मांडीय संतुलन का एक वैज्ञानिक खाका है। मंत्र कहता हैः

"ओम द्यौः शान्तिरंतरिक्षम् शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः..."

इसका अर्थ है कि द्युलोक (दृश्य आकाश), अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषधियाँ और वनस्पतियाँकृप्रकृति के ये सभी जैविक और अजैविक घटक संतुलन की अवस्था में रहें। "भारतीय मनीषियों का यह स्पष्ट मत था कि व्यक्ति तभी आंतरिक शांति और मानसिक संतुलन प्राप्त कर सकता है, जब उसके आसपास का बाह्य वातावरण (पारिस्थितिकी) संतुलित हो।"[5] जब हम प्रकृति की शांति को भंग करते हैं, तो वह विक्षोभ अंततः मानव स्वास्थ्य और समाज को आतंकित करता है।

आधुनिक पर्यावरणीय संकट और सतत विकास

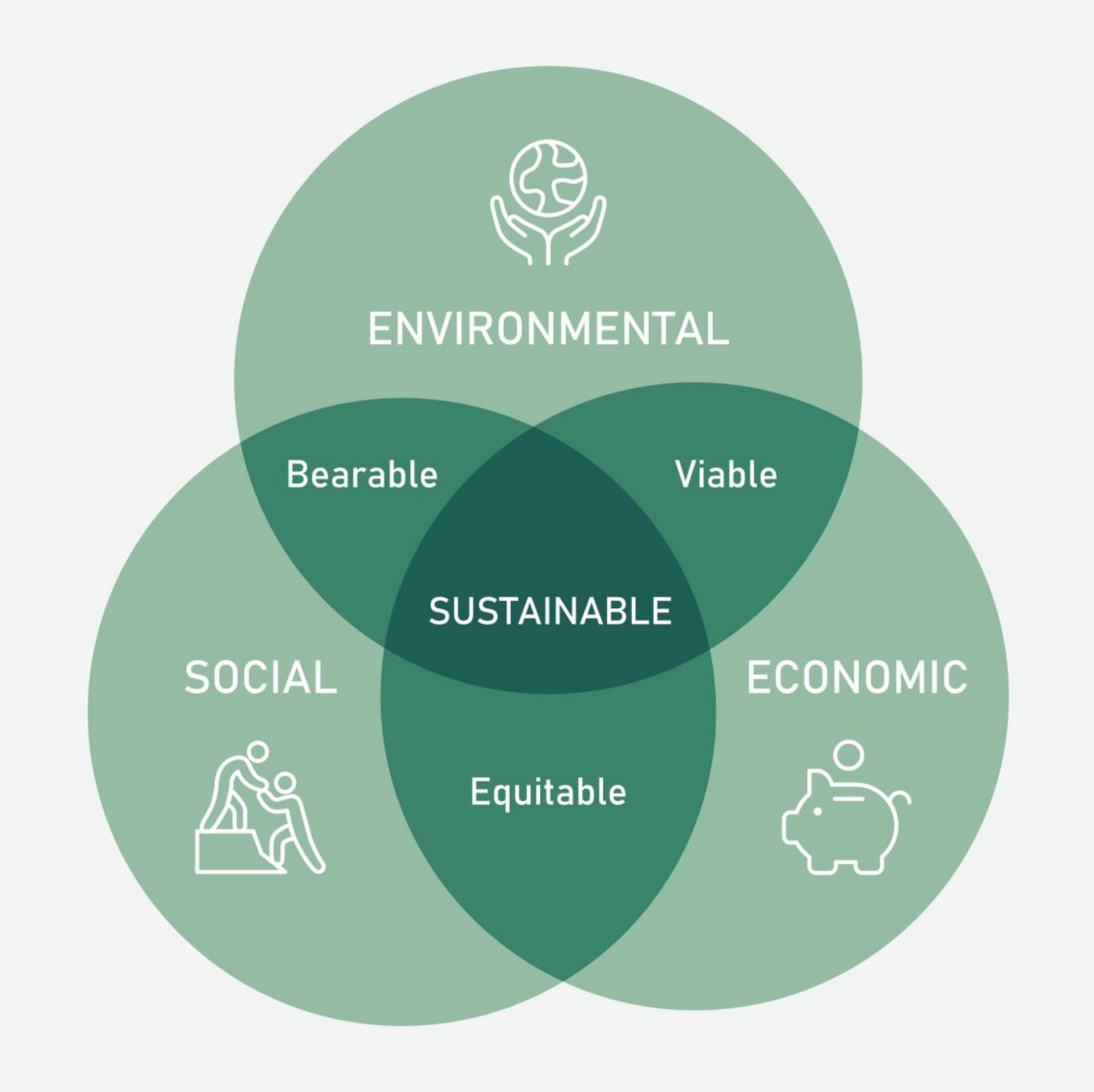

आज विश्व जिस पर्यावरणीय संकट का सामना कर रहा है, उसके मूल में यूरोप की औद्योगिक क्रांति, अनियंत्रित जनसंख्या वृद्धि और उपभोगवादी संस्कृति का 'अंधाधुंध दोहन' रहा है। भारत के संदर्भ में, पर्यावरण की समस्या केवल अत्यधिक औद्योगिकरण का परिणाम नहीं है, बल्कि यह 'सतत विकास' के वैश्विक सिद्धांतों और पारंपरिक मूल्यों के बीच बढ़ते अंतराल का परिणाम है। "विकास का वह मॉडल जो विनाश की कीमत पर खड़ा हो, कभी स्थायी नहीं हो सकता। सच्चा विकास वही है जो भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं से समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करे और पर्यावरणीय रूप से हितकर हो।"[6]

अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि पर्यावरण संरक्षण केवल समृद्ध राष्ट्रों की चिंता है, किंतु 1992 के 'हेल्थ ऑफ द प्लेनेट' सर्वेक्षण ने इस मिथक को तोड़ दिया। 24 राष्ट्रों पर किए गए इस अध्ययन ने सिद्ध किया कि निर्धन और विकासशील देशों के नागरिक भी पर्यावरण के प्रति उतने ही सजग और चिंतित हैं जितने कि विकसित देशों के। यह स्पष्ट करता है कि पर्यावरणीय सरोकार राष्ट्रीय समृद्धि या भौतिकवादी मूल्यों के मोहताज नहीं हैं।

"भारतीय मनीषियों ने संसाधनों के उपयोग के प्रति एक नैतिक दृष्टिकोण दिया था। उन्होंने प्रकृति के अनुकूल व्यवहार को 'दैवी प्रवृत्ति' और संसाधनों के विध्वंसक शोषण को 'आसुरी प्रवृत्ति' की संज्ञा दी।"[7] आज की शब्दावली में जिसे हम 'इको–फ्रेंडली' कहते हैं, वही हमारी परंपरा में 'दैवी' था। वर्तमान में ऊर्जा की अंधाधुंध खपत और वनों की कटाई ने जिस 'आसुरी' संकट को जन्म दिया है, उसका समाधान केवल भारतीय ज्ञान परंपरा के 'त्यागपूर्वक उपभोग' के सिद्धांत में ही निहित है।

साहित्य और वैचारिक प्रस्थान

भारतीय साहित्य केवल शब्दों का संचयन नहीं है, बल्कि यह प्रकृति और मनुष्य के बीच के रागात्मक संबंधों का जीवंत दस्तावेज भी है। हमारे साहित्यकारों ने सदैव पर्यावरण को एक निर्जीव पृष्ठभूमि के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत पात्र के रूप में चित्रित किया है। युग प्रवर्तक कथाकार मुंशी प्रेमचंद के साहित्य में 'पर्यावरण संवेदना' के प्रगाढ़ दर्शन होते हैं। उनकी कालजयी कहानी 'पूस की रात' न केवल ग्रामीण परिवेश का यथार्थ चित्रण करती है, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष व सानिध्य का पर्दा भी खोलती है। इसी प्रकार, 'दो बैलों की कथा' के माध्यम से प्रेमचंद ने पशु जगत और मानव जगत के बीच उस उदात्त संवेदनात्मक सूत्र को उभारा है, जो आज के भौतिकवादी युग में विरल होता जा रहा है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में निर्मल वर्मा के यात्रा वृतांत, विशेषकर 'चीड़ों पर चांदनी', प्रकृति के साथ मानवीय चेतना के गहरे और संवेदनशील रिश्तों का एक विस्तृत खाका प्रस्तुत करते हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति की छिपी हुई सौंदर्य परतों की खोज मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं, बल्कि मनुष्य की आंतरिक रागात्मकता का सफल परिचायक है। अज्ञेय की रचनाएँ जैसे 'अरे यायावर रहेगा याद' भी इसी प्रकृति केंद्रित बोध को पुष्ट करती हैं।

वैचारिक धरातल पर, महात्मा गांधी का चिंतन इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु है। गांधीजी का 'अहिंसा' का सिद्धांत केवल मानव–मानव तक सीमित नहीं है, बल्कि यह प्रकृति के प्रति मनुष्य के उत्तरदायित्व का वैज्ञानिक नियम भी है। उनका मानना था कि प्रकृति के पास मनुष्य की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त संसाधन हैं, लेकिन उसके लालच के लिए नहीं। गांधीजी के विचार विकास और पर्यावरण, तथा गाँव और शहर के बीच जो विमर्श उत्पन्न करते हैं, वे आज के 'क्लाइमेट चेंज' के दौर में अत्यंत प्रासंगिक हैं। यदि हम गांधीवादी जीवन दृष्टि को नजरअंदाज करते हैं, तो पर्यावरणवाद की अवधारणा अधूरी रह जाएगी।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा का आधारभूत दर्शन 'सह–अस्तित्व' और 'शुद्धता' पर टिका है। आज वैश्विक स्तर पर सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने संकीर्ण व्यक्तिगत स्वार्थों को त्यागकर सामाजिक और प्राकृतिक हितों को प्राथमिकता दे। आत्मावलोकन और सांस्कृतिक मूल्यों के पुनर्जागरण के माध्यम से ही हम उस प्राकृतिक प्रदूषण पर रोक लगा सकते हैं, जिसने हमारे अस्तित्व को ही संकट में डाल दिया है। वेदों, उपनिषदों और स्मृतियों में प्रकृति के स्वरूप और संरक्षण का जो विस्तृत विधान मिलता है, उसका परिपालन मात्र धार्मिक क्रिया नहीं, अपितु मानव कल्याण का एकमात्र शेष मार्ग है। हमें यह समझना होगा कि पर्यावरण का अवनयन न केवल हमारी जैविकी को प्रभावित करता है, बल्कि यह हमारी मानसिकता को भी आतंकित करता है और हमारे सौंदर्य बोध को नष्ट कर देता है। जब हम अवनयित या प्रदूषित पर्यावरण में रहते हैं, तो हमारा चिंतन भी दूषित होने लगता है। अतः, वर्तमान युग की महती आवश्यकता है कि हम अपनी प्राचीन ज्ञान परंपरा से प्रेरणा लें और प्रकृति के साथ पुनः 'तादात्मय' स्थापित करें। हमें प्रकृति के प्रकृत स्वरूप को नष्ट करने के बजाय उसके संरक्षण को अपनी जीवन शैली का हिस्सा बनाना होगा। यदि हम वेदों में वर्णित 'शांति पाठ' के भाव को आत्मसात कर सकें, तो न केवल वायु, जल और मिट्टी का शुद्धिकरण होगा, बल्कि संपूर्ण मानव समाज में सुख और संतुलन की पुनर्स्थापना संभव हो सकेगी।

संदर्भ सूची

1.दबे, दया (2000): वेदों में पर्यावरण, सुरभि पब्लिकेशंस, जयपुर, पृ. 21.

2.शर्मा, दामोदर एवं व्यास, हरिश्चंद्र (1995): हमारा पर्यावरण, साहित्यगार, जयपुर, पृ. 121.

3.पाण्डेय, जय नारायण (1989): भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद, पृ. 271.

4.जैन, प्रेम सुमन (1995): पर्यावरण संतुलन एवं शाकाहार, संघी प्रकाशन, जयपुर, पृ. 51.

5.दबे, दया (2000): वेदों में पर्यावरण, सुरभि पब्लिकेशंस, जयपुर, पृ. 21.

6.त्रिवेदी, पी.सी. एवं गुप्ता, गरिमा (2007): पर्यावरण अध्ययन, आविष्कार पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, पृ. 45.

7.गोयल, एम. के. (2014): पर्यावरण शिक्षा, श्री विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा,पृ. 71.